

## Chapter छह

### विश्व रूप की सृष्टि

ऋषिरुवाच

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।

प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; इति—इस प्रकार; तासाम्—उनका; स्व-शक्तीनाम्—अपनी शक्ति; सतीनाम्—इस प्रकार स्थित; असमेत्य—किसी संयोग के बिना; सः—वह ( भगवान् ); प्रसुप्त—निलम्बित; लोक-तन्त्राणाम्—विश्व सृष्टियों में; निशाम्य—सुनकर; गतिम्—प्रगति; ईश्वरः—भगवान् ।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : इस तरह भगवान् ने महत्-तत्त्व जैसी अपनी शक्तियों के संयोग न होने के कारण विश्व के प्रगतिशील सृजनात्मक कार्यकलापों के निलम्बन के विषय में सुना ।

तात्पर्य : भगवान् की सृष्टियों में किसी तरह का अभाव नहीं है। सारी शक्तियाँ वहाँ ही प्रसुप्तावस्था में रहती हैं। किन्तु जब तक भगवान् की इच्छा से उनका संयोग नहीं हो जाता तब तक कोई प्रगति नहीं हो सकती। सृष्टि के निलम्बित प्रगतिशील कार्य को भगवान् के निर्देशन द्वारा ही पुनरुज्जीवित किया जा सकता है ।

कालसञ्ज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।

त्रयोविंशति तत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

काल-सञ्ज्ञाम्—काली के नाम से विख्यात; तदा—उस समय; देवीम्—देवी को; बिभ्रत्—विनाशकारी; शक्तिम्—शक्ति; उरुक्रमः—परम शक्तिशाली; त्रयः-विंशति—तेईस; तत्त्वानाम्—तत्त्वों के; गणम्—उन सभी; युगपत्—एक ही साथ; आविशत्—प्रवेश किया ।

तब परम शक्तिशाली भगवान् ने अपनी बहिरंगा शक्ति, देवी काली सहित तेईस तत्त्वों के भीतर प्रवेश किया, क्योंकि वे ही विभिन्न प्रकार के तत्त्वों को संमेलित करती हैं ।

तात्पर्य : पदार्थ के अवयवों की संख्या तेईस है—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति, मिथ्या अहंकार, ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद, गंध, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा (वायु), लिंग (उपस्थ), वाणी तथा मन। ये सभी काल के प्रभाव से परस्पर संयुक्त रहते हैं

और कालक्रम में विघटित हो जाते हैं। इसीलिए काल भगवान् की शक्ति है और यह शक्ति भगवान् के निर्देशानुसार अपने ही ढंग से कार्य करती है। यह शक्ति काली कहलाती है और काली विध्वंसक देवी के द्वारा इसका प्रतिनिधित्व होता है, जो भौतिक संसार में सामान्यतया तमोगुण से प्रभावित लोगों द्वारा पूजित होती है। वैदिक स्तोत्र में यह विधि इस प्रकार वर्णित है— *मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाध्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः*। जो शक्ति तेईस अवयवों के संयोग से भौतिक प्रकृति के रूप में कार्य करती है, वह सृष्टि का अन्तिम स्रोत नहीं है। भगवान् तत्त्वों में प्रवेश करते हैं और अपनी शक्ति काली को व्यवहृत करते हैं। अन्य समस्त वैदिक शास्त्रों में यही सिद्धान्त स्वीकार हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—

*एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं*

*यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः ।*

*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥*

“मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि भगवान् हैं। अपने स्वांश (महाविष्णु) के द्वारा वे भौतिक प्रकृति में और तब प्रत्येक ब्रह्माण्ड में (गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में) प्रवेश करते हैं। तत्पश्चात् वे (क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में) पदार्थ के परमाणुओं समेत सभी तत्त्वों में प्रवेश कर जाते हैं। विराट् सृष्टि के ऐसे स्वरूप ब्रह्माण्डों में तथा व्यष्टि परमाणुओं दोनों ही में असंख्य होते हैं।”

इसी तरह इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.४२) में हुई है—

*अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।*

*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥*

“हे अर्जुन! मेरी उन असंख्य शक्तियों के विषय में तुम्हारे लिए जानने की कोई आवश्यकता नहीं है, जो विविध प्रकारों से कार्य करती हैं। मैं समस्त ब्रह्माण्डों तथा उनके सारे तत्त्वों में अपने स्वांश (परमात्मा) के रूप में भौतिक सृष्टि में प्रवेश करता हूँ। इस तरह सृष्टि का कार्य चलता रहता है।” भौतिक प्रकृति के आश्चर्यजनक कार्य भगवान् कृष्ण के कारण होते हैं, इसीलिए वे अन्तिम कारण या समस्त कारणों के परम कारण हैं।

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम् ।  
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ॥ ३ ॥

### शब्दार्थ

सः—वह; अनुप्रविष्टः—इस तरह बाद में प्रवेश करते हुए; भगवान्—भगवान्; चेष्टा-रूपेण—अपने प्रयास काली के रूप में;  
तम्—उनको; गणम्—सारे जीव जिनमें देवता सम्मिलित हैं; भिन्नम्—पृथक्-पृथक्; संयोजयाम् आस—कार्य करने में लगाया;  
सुप्तम्—सोई हुई; कर्म—कर्म; प्रबोधयन्—प्रबुद्ध करते हुए।

इस तरह जब भगवान् अपनी शक्ति से तत्त्वों के भीतर प्रविष्ट हो गये तो सारे जीव प्रबुद्ध होकर विभिन्न कार्यों में उसी तरह लग गये जिस तरह कोई व्यक्ति निद्रा से जगकर अपने कार्य में लग जाता है।

**तात्पर्य :** हर जीव सृष्टि के लय के पश्चात् अचेत रहता है और भगवान् की भौतिक शक्ति के साथ उनमें ही प्रवेश करता है। ये व्यष्टि जीव पहले से चली आ रही बद्ध आत्माएँ हैं, किन्तु प्रत्येक भौतिक सृष्टि में उन्हें अपने आपको मुक्त करने तथा स्वतंत्र आत्माएँ बनने का अवसर प्रदान किया जाता है। उन्हें वैदिक ज्ञान का लाभ उठाने का तथा यह पता लगाने का कि भगवान् के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, वे किस तरह मुक्त बन सकते हैं, और ऐसी मुक्ति में परम लाभ क्या है, अवसर प्रदान किया जाता है। वेदों का समुचित अध्ययन करके मनुष्य अपने पद से अवगत होता है और इस तरह भगवान् की दिव्य भक्ति करता हुआ क्रमशः वैकुण्ठलोक को प्राप्त होता है। भौतिक जगत में व्यष्टि आत्माएँ अपनी विगत अपूर्ण इच्छाओं के अनुसार विभिन्न कार्यों में लगी रहती हैं। किसी विशेष शरीर के विघटन के बाद व्यष्टि आत्मा हर वस्तु को भूल जाती है, किन्तु सर्वकरुणामय भगवान्, जो कि साक्षी परमात्मा के रूप में हर व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं, उसे जागृत करते हैं और उसे उसकी विगत इच्छाओं की याद दिलाते रहते हैं। इस तरह वह अपने अगले जीवन में उसी के अनुसार कर्म करने लगता है। इस अदृष्ट मार्गदर्शन को भाग्य कहा जाता है और कोई भी विवेकशील व्यक्ति समझ सकता है कि इससे प्रकृति के तीन गुणों में उसका भौतिकबन्धन बना रहता है।

सृष्टि के आंशिक या पूर्ण लय के तुरन्त बाद जीव की अचेत सुप्तावस्था को कुछ अल्पज्ञ दार्शनिक भूल से जीवन की चरम अवस्था मान बैठते हैं। आंशिक भौतिक शरीर के विलय के बाद जीव केवल कुछ महीनों तक अचेत रहता है और भौतिक सृष्टि के पूर्ण विलय के बाद वह लाखों वर्षों तक अचेत

रहता है। किन्तु जब सृष्टि पुनः जागृत होती है, तो भगवान् उसे जगा कर पुनः कर्म में लगाते हैं। जीव शाश्वत है और उसके कार्यों द्वारा प्रकट उसकी जाग्रत चेतना-अवस्था उसके जीवन की स्वाभाविक अवस्था है। जागृत रहते हुए वह कर्म करना बन्द नहीं करता और इस तरह वह अपनी विविध इच्छाओं के अनुसार कर्म करता है। जब उसकी इच्छाएँ भगवान् की दिव्य सेवा करने के लिए प्रशिक्षित की जाती हैं, तो उसका जीवन पूर्ण हो जाता है और नित्य जाग्रत जीवन का आनन्द पाने के लिए वह वैकुण्ठ भेज दिया जाता है।

प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।

प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम् ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

प्रबुद्ध—जाग्रत; कर्मा—कार्यकलाप; दैवेन—ब्रह्म की इच्छा से; त्रयः-विंशतिकः—तेईस प्रमुख अवयवों द्वारा; गणः—संमेल; प्रेरितः—द्वारा प्रेरित; अजनयत्—प्रकट किया; स्वाभिः—अपने; मात्राभिः—स्वांश से; अधिपूरुषम्—विराट रूप ( विश्वरूप ) को।

जब परम पुरुष की इच्छा से तेईस प्रमुख तत्त्वों को सक्रिय बना दिया गया तो भगवान् का विराट विश्वरूप शरीर प्रकट हुआ।

तात्पर्य : विराट् रूप या विश्व रूप जिसकी निर्विशेषवादी बहुत बड़ाई करते हैं, वह भगवान् का नित्य रूप नहीं है। यह भगवान् की परम इच्छा द्वारा भौतिक सृष्टि के अवयवों के बाद प्रकट किया जाता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यह विराट या विश्वरूप निर्विशेषवादियों को यह विश्वास दिलाने के लिए दिखलाया कि वे ही आदि भगवान् हैं। कृष्ण ने विराट् रूप प्रकट किया था। ऐसा नहीं है कि विराट रूप द्वारा कृष्ण प्रकट हुए, इसलिए विराट रूप भगवान् द्वारा वैकुण्ठ में प्रकट किया गया नित्य रूप नहीं है। यह भगवान् का भौतिक प्राकट्य है। नवजिज्ञासुओं के लिए मन्दिर का अर्चाविग्रह भगवान् का ऐसा ही प्राकट्य है। किन्तु भगवान् के विराट तथा अर्चा रूप भौतिक होने पर भी उनके नित्य रूप से अभिन्न हैं।

परेण विशता स्वस्मिन्मात्रया विश्वसृगणः ।

चुक्षोभान्योन्यमासाद्य यस्मिन्लोकाश्चराचराः ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

परेण—भगवान् द्वारा; विशता—इस तरह प्रवेश करके; स्वस्मिन्—स्वतः; मात्रया—स्वांश द्वारा; विश्व-सृक्—विश्व सृष्टि के तत्त्व; गणः—सारे; चुक्षोभ—रूपान्तरित हो गये; अन्योन्यम्—परस्पर; आसाद्य—प्राप्त करके; यस्मिन्—जिसमें; लोकाः—लोक; चर-अचराः—जड़ तथा चेतन।

ज्योंही भगवान् ने अपने स्वांश रूप में विश्व के सारे तत्त्वों में प्रवेश किया, त्योंही वे विराट रूप में रूपान्तरित हो गये जिसमें सारे लोक और समस्त जड़ तथा चेतन सृष्टियाँ टिकी हुई हैं।

तात्पर्य : विराट सृष्टि के सारे तत्त्व पदार्थ हैं और जब तक भगवान् अपने स्वांश रूप में उनमें प्रवेश नहीं करते तब तक आकार में वृद्धि करने की उनमें कोई सामर्थ्य नहीं होती। इसका अर्थ हुआ कि जब तक आध्यात्मिक स्पर्श नहीं होता तब तक पदार्थ घट या बढ़ नहीं सकता। पदार्थ आत्मा का प्रतिफल है और आत्मा के स्पर्श से ही बढ़ता है। इस सम्पूर्ण विराट जगत ने अपने आप यह विराट रूप धारण नहीं किया है जैसाकि अल्पज्ञों की गलत धारणा है। जब तक पदार्थ के भीतर आत्मा रहता है तब तक पदार्थ आवश्यकतानुसार बढ़ सकता है, किन्तु आत्मा के बिना पदार्थ बढ़ना बन्द कर देता है। उदाहरणार्थ, जब तक जीव के शरीर के भीतर आध्यात्मिक चेतना रहती है तब तक शरीर अपेक्षित आकार तक बढ़ता रहता है, किन्तु मृत भौतिक शरीर जिसमें आध्यात्मिक चेतना नहीं रहती, बढ़ना बन्द कर देता है। *भगवद्गीता* में (द्वितीय अध्याय) शरीर को नहीं बल्कि आध्यात्मिक चेतना को महत्त्व प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण विराट शरीर उसी विधि से बढ़ा जिसे हम अपने लघु शरीरों में अनुभव करते हैं। किन्तु मनुष्य को मूर्खतावश यह नहीं सोचना चाहिए कि व्यष्टि सूक्ष्म आत्मा विश्वरूप की विराट अभिव्यक्ति का कारण है। विश्वरूप को विराट रूप इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि भगवान् अपने स्वांश रूप में इसके भीतर होते हैं।

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।

आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

हिरण्मयः—विराट रूप धारण करने वाले गर्भोदकशायी विष्णु; सः—वह; पुरुषः—ईश्वर का अवतार; सहस्र—एक हजार; परिवत्सरान्—दैवी वर्षों तक; आण्ड-कोशे—अंडाकार ब्रह्माण्ड के भीतर; उवास—निवास करता रहा; अप्सु—जल में; सर्व-सत्त्व—उनके साथ शयन कर रहे सारे जीव; उपबृंहितः—इस तरह फैले हुए।

विराट पुरुष जो हिरण्मय कहलाता है, ब्रह्माण्ड के जल में एक हजार दैवी वर्षों तक रहता रहा और सारे जीव उसके साथ शयन करते रहे।

तात्पर्य : जब भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो गये तो आधा

ब्रह्माण्ड जल से भर गया। लोकों, बाह्य आकाश इत्यादि की विराट अभिव्यक्ति, जो हमें दृष्टिगोचर होते हैं, पूर्ण ब्रह्माण्ड की केवल आधी है। अभिव्यक्ति के पूर्व तथा ब्रह्माण्ड के भीतर विष्णु के प्रवेश करने के बाद एक हजार दैवी वर्षों की अवधि होती है। महत् तत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट किये गये सारे जीव सभी ब्रह्माण्डों में गर्भोदकशायी विष्णु के अवतार के साथ विभाजित हो जाते हैं और वे भगवान् के साथ तब तक शयन करते रहते हैं जब तक ब्रह्मा का जन्म नहीं हो जाता। ब्रह्माण्ड के भीतर ब्रह्मा ही प्रथम जीव होता है और अन्य सारे देवता तथा जीव उन्हीं से जन्मते हैं। मनुष्य जाति के आदि पिता मनु हैं, अतएव संस्कृत में मानव जाति मनुष्य कहलाती है। विभिन्न शारीरिक गुणों वाला मानव विभिन्न लोकों में विभाजित किया जाता है।

स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान् ।

विबभाजात्मनात्मानमेकधा दशधा त्रिधा ॥ ७ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; विश्व-सृजाम्—विराट रूप की; गर्भः—सम्पूर्ण शक्ति; देव—सजीव शक्ति; कर्म—जीवन की क्रियाशीलता; आत्म—आत्मा; शक्तिमान्—शक्तियों से पूरित; विबभाज—विभाजित कर दिया; आत्मना—अपने आप से; आत्मानम्—अपने को; एकधा—एक में; दशधा—दस में; त्रिधा—तथा तीन में।

विराट रूप में महत् तत्त्व की समग्र शक्ति ने स्वतः अपने को जीवों की चेतना, जीवन की क्रियाशीलता तथा आत्म-पहचान के रूप में विभाजित कर लिया जो एक, दस तथा तीन में क्रमशः उपविभाजित हो गए हैं।

तात्पर्य : चेतना जीव या आत्मा का चिह्न है। आत्मा का अस्तित्व चेतना के रूप में प्रकट है, जो ज्ञानशक्ति कहलाता है। समग्र चेतना विराट रूप की होती है और वही चेतना पृथक्-पृथक् व्यक्तियों में प्रकट होती है। चेतना का कार्य प्राणवायु के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है, जो दस प्रकार की है। ये प्राणवायुएँ प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान कहलाती हैं और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनञ्जय के रूप में अलग-अलग गुणों वाली भी हैं। आत्मा की चेतना भौतिक वातावरण द्वारा दूषित हो जाती है और इस प्रकार शारीरिक पहचान के मिथ्या अहंकार में विभिन्न कार्यकलाप प्रकट होते हैं। भगवद्गीता (२.४१) में इन विभिन्न कार्यकलापों का वर्णन बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् के रूप में हुआ है। बद्ध आत्मा शुद्धचेतना के अभाव में विविध कार्यों में मोहग्रस्त होता रहता है।

शुद्धचेतनावस्था में केवल एक कार्य होता है। व्यष्टि आत्मा की चेतना उस समय परम चेतना से एक हो जाती है जब इन दोनों के मध्य पूर्ण समन्वयन होता है।

अद्वैतवादी का विश्वास है कि चेतना केवल एक होती है, जबकि *सात्वतों* अर्थात् भक्तों का विश्वास है कि यद्यपि चेतना निस्सन्देह एक है, किन्तु उनमें तालमेल होने से ही वे एक हैं। व्यष्टि चेतना को परम चेतना के साथ जुड़ जाने की सलाह दी जाती है जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् ने उपदेश दिया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*। व्यष्टि चेतना (अर्जुन) को परम चेतना के साथ-साथ रहने की और इस तरह अपनी सचेतन शुद्धता बनाये रखने की सलाह दी जाती है। चेतना के कार्यकलापों को बन्द करने का प्रयास मूर्खता है, किन्तु भगवान् के साथ जोड़कर उन्हें शुद्ध किया जा सकता है। यह चेतना शुद्धि की मात्रा के अनुसार आत्म-पहचान के तीन गुणों में विभाजित हो जाती हैं—*आध्यात्मिक* अर्थात् शरीर तथा मन के साथ आत्म-पहचान, *आधिभौतिक* या भौतिक उत्पादों के साथ आत्म-पहचान, तथा *आधिदैविक* या भगवान् के सेवक के रूप में आत्म-पहचान। इन तीनों में *आधिदैविक* आत्म-पहचान भगवान् की इच्छा का पालन करते हुए चेतना की शुद्धि की शुरुआत है।

एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।

आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

एषः—यह; हि—निस्सन्देह; अशेष—असीम; सत्त्वानाम्—जीवों के; आत्मा—आत्मा; अंशः—अंश; परम-आत्मनः—परमात्मा का; आद्यः—प्रथम; अवतारः—अवतार; यत्र—जिसमें; असौ—वे सब; भूत-ग्रामः—समुचित सृष्टियाँ; विभाव्यते—फलती फूलती हैं।

भगवान् का विश्वरूप प्रथम अवतार तथा परमात्मा का स्वांश होता है। वे असंख्य जीवों के आत्मा हैं और उनमें समुचित सृष्टि ( भूतग्राम ) टिकी रहती है, जो इस तरह फलती फूलती है।

**तात्पर्य :** भगवान् दो प्रकार से अपना विस्तार करते हैं—आत्म स्वांश द्वारा तथा विभक्त सूक्ष्म अंश द्वारा। आत्म स्वांश *विष्णुतत्त्व* है तथा विभक्त अंश जीव हैं। चूँकि जीव अत्यन्त लघु हैं, अतएव कभी-कभी उन्हें भगवान् की तटस्था शक्ति कहा जाता है। किन्तु योगीजन जीवों तथा परमात्मा को एक ही मानते हैं, पर यह विवाद का बहुत नगण्य बिन्दु है। कुल मिलाकर प्रत्येक वस्तु भगवान् के विराट् रूप

या विश्वरूप पर ही टिकी रहती है।

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।

विराट्प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥ ९ ॥

### शब्दार्थ

स-आध्यात्मः—शरीर तथा समस्त इन्द्रियों समेत मन; स-आधिदैवः—तथा इन्द्रियों के नियंत्रक देवता; च—तथा; स-आधिभूतः—वर्तमान विषय; इति—इस प्रकार; त्रिधा—तीन; विराट्—विराट्; प्राणः—चालक शक्ति; दश-विधः—दस प्रकार; एकधा—केवल एक; हृदयेन—चेतना शक्ति; च—भी।

विश्वरूप तीन, दस तथा एक के द्वारा इस अर्थ में प्रस्तुत होता है कि वे ( भगवान् ) शरीर तथा मन और इन्द्रियाँ हैं। वे ही दस प्रकार की जीवन शक्ति द्वारा समस्त गतियों की गत्यात्मक शक्ति हैं और वे ही एक हृदय हैं जहाँ जीवन-शक्ति सृजित होती है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.४-५) में कहा गया है कि आठ तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—भगवान् की कनिष्ठा शक्ति के उत्पाद हैं जबकि कनिष्ठा शक्ति का उपभोग करते दिखाई पड़ने वाले जीव मूलतः श्रेष्ठ शक्ति से अर्थात् भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से—सम्बन्धित हैं। आठों कनिष्ठा शक्तियाँ स्थूल तथा सूक्ष्म रीति से कार्य करती हैं जबकि श्रेष्ठ शक्ति मध्यवर्ती केन्द्रीय जनक शक्ति के रूप में कार्य करती है—ऐसा मानव शरीर में अनुभव किया जाता है। स्थूल तत्त्व—पृथ्वी आदि—बाह्य स्थूल शरीर का निर्माण करते हैं और ऊपरी वस्त्र (कुर्ते) के सदृश हैं जबकि सूक्ष्म मन तथा मिथ्या अहंकार शरीर के भीतरी वस्त्र (बनियान) की तरह कार्य करते हैं।

शरीर की गतियाँ सर्वप्रथम हृदय से उत्पन्न होती हैं और शरीर के सारे कार्यकलाप इन्द्रियों द्वारा सम्भव होते हैं, जो शरीर के भीतर दस प्रकार की वायु द्वारा शक्ति प्राप्त करती हैं। दस प्रकार की वायु का वर्णन इस प्रकार है—श्वास लेते समय नाक से प्रविष्ट होने वाली मुख्य वायु प्राण कहलाती है। जो वायु गुदा से बाहर निकलती है, वह अपान कहलाती है। जो वायु उदर के भीतर भोजन को ठीक करती है और जो कभी-कभी डकार के रूप में निकलती है, समान कहलाती है। जो वायु गले से होकर जाती है और जिसके रुकने से दम घुटता है, वह उदान वायु कहलाती है। जो सम्पूर्ण वायु पूरे शरीर में चक्कर लगाती है, वह व्यान वायु कहलाती है। इन पाँचों वायुओं से भी सूक्ष्म अन्य वायु हैं। जो वायु आँखों के और मुख के खुलने में सहायक बनती है, वह नाग वायु कहलाती है। जो वायु भूख



को बढ़ाती है, कृकर वायु कहलाती है। जो वायु संकुचन में सहायक होती है, वह कूर्म वायु कहलाती है। जो वायु अँगड़ाई लेते समय मुख को फैलाकर विश्राम दिलाती है, वह देवदत्त कहलाती है तथा जो वायु संपोषण में सहायक बनती है, वह धनञ्जय वायु कहलाती है।

ये सारी वायु हृदय के मध्य से उत्पन्न होती हैं और हृदय केवल एक है। यह मध्यवर्ती शक्ति भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति है, जो हृदय के भीतर शरीर के आत्मा के साथ आसीन है, जो भगवान् के मार्गदर्शन में कार्य करता है। इसकी व्याख्या भगवद्गीता (१५.१५) में इस प्रकार हुई है—

*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो*

*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।*

*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो*

*वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥*

संपूर्ण मध्यवर्ती शक्ति भगवान् द्वारा हृदय से उत्पन्न की जाती है। जो वहीं पर स्थित होते हैं और स्मरण करने तथा विस्मरण करने में बद्धजीव की सहायता करते हैं। यह बद्ध अवस्था जीव द्वारा भगवान् की अधीनता की विस्मृति के कारण है। जो व्यक्ति भगवान् को भुलाए रखना चाहता है उसकी भगवान् जन्म-जन्मांतर भुलवाये रखने में सहायता करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवद्भक्त की संगति के बल पर उनका स्मरण करता है, स्मरण करने में भगवान् उसकी अधिकाधिक सहायता करते हैं। इस तरह बद्धात्मा अन्ततोगत्वा भगवद्भाम वापस जा सकता है।

भगवान् द्वारा दी जाने वाली इस दिव्य सहायता की विधि का वर्णन भगवद्गीता (१०.१०) में इस प्रकार हुआ है—

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।*

*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥*

मन से परे बुद्धि अर्थात् भक्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार की बुद्धियोग विधि अकेले ही मनुष्य को विराट सृष्टि में भव-बन्धन की बद्ध अवस्था से ऊपर ले जा सकती है। जीव की बद्ध अवस्था उस व्यक्ति जैसी है, जो किसी विशाल यांत्रिक व्यवस्था की गहराई में हो। मानसिक चिन्तक अनेकानेक जन्मों के चिन्तन के बाद ही बुद्धियोग के बिन्दु तक पहुँच सकते हैं, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति, जो मन के

ऊपर बुद्धिस्तर से प्रारम्भ करता है, आत्म-साक्षात्कार में तीव्र प्रगति करता है। चूँकि बुद्धियोग में किसी समय भी हास या पीछे जाने का किसी प्रकार से भय नहीं रहता, अतएव आत्म-साक्षात्कार के लिए यह विश्वसनीय मार्ग है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता द्वारा (२.४०) होती है। मानसिक चिन्तक एक ही वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों को ( श्वेताश्वतर-उपनिषद्) आत्मा तथा परमात्मा के रूप में नहीं समझ पाते। व्यष्टि आत्मा तो वृक्ष का फल खाता है, किन्तु दूसरा पक्षी फल न खाकर फल खा रहे पक्षी के कार्यकलापों का अवलोकन करता रहता है। यह साक्षी पक्षी, फल खा रहे पक्षी को सकाम कर्म करते रहने में पहुँचाता है। जो व्यक्ति आत्मा तथा परमात्मा या ईश्वर और जीव के इस अन्तर को नहीं समझ सकता वह अब भी विराट यंत्र के पाश में है, अतएव उसे उस समय की प्रतीक्षा करनी होगी जब वह इस बन्धन से छूट सकेगा।

स्मरन्विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।

विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥ १० ॥

#### शब्दार्थ

स्मरन्—स्मरण करते हुए; विश्व-सृजाम्—विश्व रचना का कार्यभार सँभालने वाले देवता-गण; ईशः—भगवान्; विज्ञापितम्—स्तुति किया गया; अधोक्षजः—ब्रह्म; विराजम्—विराट रूप; अतपत्—इस तरह विचार किया; स्वेन—अपनी; तेजसा—शक्ति से; एषाम्—उनके लिए; विवृत्तये—समझने के लिए।

परम प्रभु इस विराट जगत की रचना का कार्यभार सँभालने वाले समस्त देवताओं के परमात्मा हैं। इस तरह ( देवताओं द्वारा ) प्रार्थना किये जाने पर उन्होंने मन में विचार किया और तब उनको समझाने के लिए अपना विराट रूप प्रकट किया।

**तात्पर्य :** निर्विशेषवादी लोग भगवान् के विराट रूप के प्रति विभ्रमित रहते हैं। वे सोचते हैं कि इस विराट अभिव्यक्ति के पीछे कल्पना का हाथ है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति कारण के महत्त्व का अनुमान परिणामों के चमत्कारों को देखकर लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, माता के गर्भ में मनुष्य-शरीर का विकास स्वतंत्र रूप से नहीं होता, अपितु इसलिए होता है कि शरीर के भीतर जीव या आत्मा है। जीवात्मा के बिना कोई भी भौतिक शरीर स्वयमेव न तो आकार ग्रहण कर सकता है, न विकास कर सकता है। जब कोई भौतिक वस्तु विकास प्रदर्शित करती है, तो यह समझना चाहिए कि इस अभिव्यक्ति के भीतर आध्यात्मिक आत्मा विद्यमान है। यह विराट ब्रह्माण्ड धीरे-धीरे विकसित हुआ है,

जिस तरह किसी शिशु का शरीर विकास करता है। अतएव यह धारणा कि ब्रह्माण्ड के भीतर ब्रह्म प्रवेश करता है, तर्कसंगत है। जिस तरह भौतिकतावादी लोग हृदय के भीतर आत्मा तथा परमात्मा नहीं ढूँढ़ पाते उसी तरह पर्याप्त ज्ञान के अभाव में वे यह नहीं देख पाते कि परमात्मा ही ब्रह्माण्ड का कारण है। इसीलिए वैदिक भाषा में भगवान् को *अवाङ्मनसागोचरः* अर्थात् शब्दों तथा मनों की धारणा से परे कहा गया है।

अल्पज्ञान के कारण मानसिक चिन्तक ब्रह्म को शब्दों तथा मनों की सीमा में बाँधना चाहते हैं, किन्तु भगवान् इस तरह से नहीं जाने जा सकते। चिन्तक के पास भगवान् की अनन्तता की माप जानने के लिए पर्याप्त शब्द या मन नहीं होता। भगवान् *अधोक्षज* कहलाते हैं जिसका अर्थ है ऐसा पुरुष जो हमारी इन्द्रियों की कुन्द सीमित शक्ति की अनुभूति से परे है। कोई व्यक्ति मानसिक चिन्तन द्वारा भगवान् के दिव्य नाम या रूप को नहीं देख सकता। संसारी पीएच.डी. वाले अपनी सीमित इन्द्रियों से ब्रह्म के विषय में चिन्तन कर पाने में बिल्कुल असमर्थ हैं। ऐसे गर्वित पीएच.डी. लोगों द्वारा किये जानेवाले प्रयत्नों की तुलना कूपमण्डूक के दर्शन से की जा सकती हैं। जब एक कूपमण्डूक को विशाल प्रशान्त महासागर की जानकारी दी गई तो वह प्रशान्त महासागर की लम्बाई-चौड़ाई मापने या समझने के उद्देश्य से फूल कर कुप्पा हो गया। अन्त में इस मंडूक का शरीर फट गया और वह मर गया। पीएच.डी. उपाधि की विवेचना हल (कृषि) विभाग से की जा सकती है। यह उपाधि धान के खेतों को जोतने वालों के निमित्त है। धान के खेतों को जोतने वालों के द्वारा विराट जगत को तथा ऐसे अद्भुत कार्य के पीछे कारण को समझने के प्रयास की तुलना उस कूपमण्डूक से की जा सकती है, जो प्रशान्त महासागर की लंबाई चौड़ाई की माप करने का प्रयास कर रहा था।

भगवान् केवल उसी व्यक्ति के समक्ष प्रकट होते हैं, जो विनयशील होता है और उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। विश्व के कार्यव्यापार के तत्त्वों तथा अवयवों का नियंत्रण करने वाले देवताओं ने पथप्रदर्शन के लिए भगवान् से प्रार्थना की, अतः उन्होंने अपना विराट रूप प्रकट किया जैसाकि उन्होंने अर्जुन के अनुरोध पर किया था।

अथ तस्याभितप्तस्य कतिधायतनानि ह ।

निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; तस्य—उसका; अभितप्तस्य—उसके चिन्तन के अनुसार; कतिधा—कितने; आयतनानि—विग्रह; ह—थे;  
निरभिद्यन्त—विभिन्नांशों द्वारा; देवानाम्—देवताओं का; तानि—उन समस्त; मे गदतः—मेरे द्वारा वर्णित; शृणु—सुनो।

मैत्रेय ने कहा : अब तुम मुझसे यह सुनो कि परमेश्वर ने अपना विराट रूप प्रकट करने के बाद किस तरह से अपने को देवताओं के विविध रूपों में विलग किया।

तात्पर्य : देवता भी अन्य सारे जीवों की तरह परमेश्वर के वियुक्त हुए भिन्नांश हैं। देवताओं तथा सामान्य जीवों में केवल इतना ही अन्तर है कि सारे जीव जब भगवान् की भक्ति के पुण्य कर्मों से युक्त होते हैं और भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की उनकी इच्छा शमित हो जाती है, तो वे देवताओं के पद पर उन्नत कर दिये जाते हैं, जिन्हें भगवान् विश्व के कार्य-व्यापार की व्यवस्था करने का कार्य भार सौंपे हुए हैं।

तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम् ।

वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; अग्निः—अग्नि; आस्यम्—मुँह; निर्भिन्नम्—इस तरह वियुक्त; लोक-पालः—भौतिक मामलों के निदेशक;  
अविशत्—प्रवेश किया; पदम्—अपने-अपने पदों को; वाचा—शब्दों से; स्व-अंशेन—अपने अंश से; वक्तव्यम्—वाणी;  
यया—जिससे; असौ—वे; प्रतिपद्यते—व्यक्त करते हैं।

उनके मुख से अग्नि अथवा उष्मा विलग हो गई और भौतिक कार्य सँभालने वाले सारे निदेशक अपने-अपने पदों के अनुसार इस में प्रविष्ट हो गये। जीव उसी शक्ति से शब्दों के द्वारा अपने को अभि-व्यक्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के विराट रूप का मुख वाचा शक्ति का उद्गम है। अग्नि तत्त्व का निदेशक इसका नियंत्रक अथवा आधिदैव है। अभि-व्यक्त वाणियां आध्यात्म या शारीरिक कार्य हैं और वाणियों की विषयवस्तु आधिभूत तत्त्व या भौतिक उत्पादन हैं।

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्भरेः ।

जिह्वांशेन च रसं ययासौ प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

निर्भिन्नम्—वियुक्त; तालु—तालु; वरुणः—वायु का नियन्ता देव; लोक-पालः—लोकों का निदेशक; अविशत्—प्रविष्ट हुआ; हरेः—भगवान् के; जिह्वया अंशेन—जीभ के अंश से; च—भी; रसम्—स्वाद; यया—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अभि-व्यक्त करता है।

जब विराट रूप का तालू पृथक् प्रकट हुआ तो लोकों में वायु का निदेशक वरुण उसमें प्रविष्ट हुआ जिससे जीव को अपनी जीभ से हर वस्तु का स्वाद लेने की सुविधा प्राप्त है।

निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम् ।  
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ १४ ॥

#### शब्दार्थ

निर्भिन्ने—इस प्रकार से पृथक् हुए; अश्विनौ—दोनों अश्विनीकुमार; नासे—दोनों नथुनों के; विष्णोः—भगवान् के; आविशताम्—प्रविष्ट होकर; पदम्—पद; घ्राणेन अंशेन—आंशिक रूप से सूँघने से; गन्धस्य—गन्ध का; प्रतिपत्तिः—अनुभव; यतः—जिससे; भवेत्—होता है।

जब भगवान् के दो नथुने पृथक् प्रकट हुए तो दोनों अश्विनीकुमार उनके भीतर अपने-अपने पदों पर प्रवेश कर गये। इसके फलस्वरूप जीव हर वस्तु की गन्ध सूँघ सकते हैं।

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः ।  
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ १५ ॥

#### शब्दार्थ

निर्भिन्ने—इस प्रकार से पृथक् होकर; अक्षिणी—आँखें; त्वष्टा—सूर्य ने; लोक-पालः—प्रकाश का निदेशक; अविशत्—प्रवेश किया; विभोः—महान् का; चक्षुषा अंशेन—दृष्टि के अंश से; रूपाणाम्—रूपों के; प्रतिपत्तिः—अनुभव; यतः—जिससे; भवेत्—होता है।

तत्पश्चात् भगवान् के विराट रूप की दो आँखें पृथक् हो गईं। प्रकाश का निदेशक सूर्य दृष्टि के आंशिक प्रतिनिधित्व के साथ उनमें प्रविष्ट हुआ जिससे जीव रूपों को देख सकते हैं।

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत् ।  
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

निर्भिन्नानि—पृथक् होकर; अस्य—विराट रूप की; चर्माणि—त्वचा; लोक-पालः—निदेशक; अनिलः—वायु ने; अविशत्—प्रवेश किया; प्राणेन अंशेन—श्वास के अंश से; संस्पर्शम्—स्पर्श; येन—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अनुभव कर सकता है।

जब विराट रूप से त्वचा पृथक् हुई तो वायु का निदेशक देव अनिल आंशिक स्पर्श से प्रविष्ट हुआ जिससे जीव स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं।

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः ।  
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ॥ १७ ॥

**शब्दार्थ**

कर्णौ—दोनों कान; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—इस तरह पृथक् होकर; धिष्ण्यम्—नियंत्रक देव; स्वम्—अपने से; विविशुः—प्रवेश किया; दिशः—दिशाओं का; श्रोत्रेण अंशेन—श्रवण तत्त्व के साथ; शब्दस्य—ध्वनि का; सिद्धिम्—सिद्धि; येन—जिससे; प्रपद्यते—अनुभव की जाती है।

जब विराट रूप के कान प्रकट हुए तो सभी दिशाओं के नियंत्रक देव श्रवण तत्त्वों समेत उनमें प्रविष्ट हो गये जिससे सारे जीव सुनते हैं और ध्वनि का लाभ उठाते हैं।

**तात्पर्य :** कान जीव के शरीर का सबसे महत्वपूर्ण यंत्र है। ध्वनि दूरस्थ तथा अज्ञात वस्तुओं का सन्देश ले जाने का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम है। समस्त ध्वनि या ज्ञान की सिद्धि कान से प्रवेश करती है और मनुष्य के जीवन को पूर्ण बनाती है। सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान एकमात्र श्रवण करके ही प्राप्त किया जाता है। इस तरह ज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत ध्वनि है।

त्वचमस्य विनिर्भिन्नौ विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः ।  
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

**शब्दार्थ**

त्वचम्—चमड़ी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नौ—अलग से प्रकट होकर; विविशुः—प्रविष्ट हुआ; धिष्ण्यम्—नियंत्रक देव; ओषधीः—संस्पर्श; अंशेन—अंशों के साथ; रोमभिः—शरीर के रोओं से होकर; कण्डूम्—खुजली; यैः—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है।

जब चमड़ी की पृथक् अभिव्यक्ति हुई तो अपने विविध अंशों समेत संस्पर्श नियंत्रक देव उसमें प्रविष्ट हो गये। इस तरह जीवों को स्पर्श के कारण खुजलाहट तथा प्रसन्नता का अनुभव होता है।

**तात्पर्य :** इन्द्रिय बोध के दो मुख्य अंग हैं—स्पर्श तथा खुजली। ये दोनों ही चमड़ी तथा शरीर के रोओं द्वारा नियंत्रित होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार स्पर्श का नियंत्रक देव शरीर के भीतर चलने वाला वायु है और शरीर के रोमों का नियंत्रक देव ओषध्य है। चमड़ी के लिए बोध का विषय स्पर्श है और शरीर के रोओं का बोध विषय खुजली है।

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत् ।  
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

**शब्दार्थ**

मेढ्रम्—जननांग; तस्य—उस विराट रूप का; विनिर्भिन्नम्—पृथक् होकर; स्व-धिष्यम्—अपना पद; कः—ब्रह्मा, आदि प्राणी; उपाविशत्—प्रविष्ट हुआ; रेतसा अंशेन—वीर्य के अंश सहित; येन—जिससे; असौ—जीव; आनन्दम्—यौन आनन्द; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है।

जब विराट रूप के जननांग पृथक् हो गये तो आदि प्राणी प्रजापति अपने आंशिक वीर्य समेत उनमें प्रविष्ट हो गये और इस तरह जीव यौन आनन्द का अनुभव कर सकते हैं।

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् ।  
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

गुदम्—गुदा; पुंसः—विराट रूप का; विनिर्भिन्नम्—पृथक् होकर; मित्रः—सूर्यदेव; लोक-ईशः—मित्र नामक निदेशक; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; पायुना अंशेन—आंशिक वायु के साथ; येन—जिससे; असौ—जीव; विसर्गम्—मलमूत्र त्याग; प्रतिपद्यते—सम्पन्न करता है।

फिर विसर्जन मार्ग पृथक् हुआ और मित्र नामक निदेशक विसर्जन के आंशिक अंगों समेत उसमें प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार जीव अपना मल-मूत्र विसर्जित करने में सक्षम हैं।

हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत् ।  
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—पृथक् होकर; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; स्वः-पतिः—स्वर्ग लोकों का शासक; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; वार्तया अंशेन—अंशतः व्यवसायिक सिद्धान्तों के साथ; पुरुषः—जीव; यया—जिससे; वृत्तिम्—जीविका का व्यापार; प्रपद्यते—चलाता है।

तत्पश्चात् जब विराट रूप के हाथ पृथक् हुए तो स्वर्गलोक का शासक इन्द्र उनमें प्रविष्ट हुआ और इस तरह से जीव अपनी जीविका हेतु व्यापार चलाने में समर्थ हैं।

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत् ।  
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

पादौ—दो पाँव; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—पृथक् प्रकट हुए; लोक-ईशः विष्णुः—विष्णु नामक देवता ( भगवान् नहीं ); आविशत्—प्रविष्ट हुआ; गत्या—चलने-फिरने की शक्ति द्वारा; स्व-अंशेन—अपने ही अंश सहित; पुरुषः—जीव; यया—जिससे; प्राप्यम्—गन्तव्य तक; प्रपद्यते—पहुँचता है।

तत्पश्चात् विराट रूप के पाँव पृथक् रूप से प्रकट हुए और विष्णु नामक देवता ( भगवान् नहीं ) ने उन में आंशिक गति के साथ प्रवेश किया। इससे जीव को अपने गन्तव्य तक जाने में सहायता मिलती है।

बुद्धि चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्यमाविशत् ।  
बोधेनांशेन बोद्धव्यम्प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ २३ ॥

**शब्दार्थ**

बुद्धिम्—बुद्धि; च—भी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नाम्—पृथक् हुई; वाक्-ईशः—वेदों का स्वामी ब्रह्मा; धिष्यम्—नियंत्रक शक्ति; आविशत्—प्रविष्ट हुए; बोधेन अंशेन—अपने बुद्धि अंश सहित; बोद्धव्यम्—ज्ञान का विषय; प्रतिपत्तिः—समझ गया; यतः—जिससे; भवेत्—इस तरह होती है।

जब विराट रूप की बुद्धि पृथक् रूप से प्रकट हुई तो वेदों के स्वामी ब्रह्मा बुद्धि की आंशिक शक्ति के साथ उसमें प्रविष्ट हुए और इस तरह जीवों द्वारा बुद्धि के ध्येय का अनुभव किया जाता है।

हृदयं चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्यमाविशत् ।  
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते ॥ २४ ॥

**शब्दार्थ**

हृदयम्—हृदय; च—भी; अस्य—विराट रूप का; निर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; चन्द्रमा—चन्द्र देवता; धिष्यम्—नियंत्रक शक्ति समेत; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; मनसा अंशेन—आंशिक मानसिक क्रिया सहित; येन—जिससे; असौ—जीव; विक्रियाम्—संकल्प; प्रतिपद्यते—करता है।

इसके बाद विराट रूप का हृदय पृथक् रूप से प्रकट हुआ और इसमें चन्द्रदेवता अपनी आंशिक मानसिक क्रिया समेत प्रवेश कर गया। इस तरह जीव मानसिक चिन्तन कर सकता है।

आत्मानं चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्यदम् ।  
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥

**शब्दार्थ**

आत्मानम्—मिथ्या अहंकार; च—भी; अस्य—विराट रूप का; निर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; अभिमानः—मिथ्या पहचान; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; पदम्—पद पर; कर्मणा—कर्म द्वारा; अंशेन—अंशतः; येन—जिससे; असौ—जीव; कर्तव्यम्—करणीय कार्यकलाप; प्रतिपद्यते—करता है।

तत्पश्चात् विराट रूप का भौतिकतावादी अहंकार पृथक् से प्रकट हुआ और इसमें मिथ्या अहंकार के नियंत्रक रुद्र ने अपनी निजी आंशिक क्रियाओं समेत प्रवेश किया जिससे जीव अपना लक्ष्य कर्तव्य पूरा करता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी स्वरूप का मिथ्या अहंकार शिवजी के अवतार रुद्र देवता द्वारा नियंत्रित होता है। रुद्र भगवान् के अवतार हैं, जो भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत तमोगुण का नियंत्रण करते हैं।



मिथ्या अहंकार की क्रियाएँ शरीर तथा मन के लक्ष्य पर आधारित होती हैं। मिथ्या अहंकार द्वारा नियंत्रित अधिकांश व्यक्ति शिवजी द्वारा नियंत्रित होते हैं। जब मनुष्य अज्ञान के सूक्ष्म रूप तक पहुँच जाता है, तो वह भ्रमवश अपने को परमेश्वर मानने लगता है। बद्ध आत्मा की अहंकारमय धारणा उस भ्रामिक माया का अन्तिम पाश है, जो सम्पूर्ण भौतिक जगत को नियंत्रित करती है।

सत्त्वं चास्य विनिर्भिन्नं महान्धिष्यमुपाविशत् ।  
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

सत्त्वम्—चेतना; च—भी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; महान्—समग्र शक्ति, महत् तत्त्व; धिष्यम्—नियंत्रण समेत; उपाविशत्—प्रविष्ट हुई; चित्तेन अंशेन—अपनी अंश चेतना समेत; येन—जिससे; असौ—जीव; विज्ञानम्—विशिष्ट ज्ञान; प्रतिपद्यते—अनुशीलन करता है।

तत्पश्चात् जब विराट रूप से उसकी चेतना पृथक् होकर प्रकट हुई तो समग्र शक्ति अर्थात् महत्त्व अपने चेतन अंश समेत प्रविष्ट हुआ। इस तरह जीव विशिष्ट ज्ञान को अवधारण करने में समर्थ होता है।

शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत ।  
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ॥ २७ ॥

#### शब्दार्थ

शीर्ष्णः—सिर; अस्य—विराट रूप का; द्यौः—स्वर्गलोक; धरा—पृथ्वीलोक; पद्भ्याम्—उसके पैरों पर; खम्—आकाश; नाभेः—नाभि से; उदपद्यत—प्रकट हुआ; गुणानाम्—तीनों गुणों के; वृत्तयः—फल; येषु—जिनमें; प्रतीयन्ते—प्रकट होते हैं; सुर-आदयः—देवता इत्यादि।

तत्पश्चात् विराट रूप के सिर से स्वर्गलोक, उसके पैरों से पृथ्वीलोक तथा उसकी नाभि से आकाश पृथक्-पृथक् प्रकट हुए। इनके भीतर भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के रूप में देवता इत्यादि भी प्रकट हुए।

आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे ।  
धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च ताननु ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

आत्यन्तिकेन—अत्यधिक; सत्त्वेन—सतोगुण द्वारा; दिवम्—उच्चतर लोकों में; देवाः—देवता; प्रपेदिरे—स्थित है; धराम्—पृथ्वी पर; रजः—रजोगुण; स्वभावेन—स्वभाव से; पणयः—मानव; ये—वे सब; च—भी; तान्—उनके; अनु—अधीन।

देवतागण, अति उत्तम गुण, सतोगुण के द्वारा योग्य बनकर, स्वर्गलोक में अवस्थित रहते हैं,

जबकि मनुष्य अपने रजोगुणी स्वभाव के कारण अपने अधीनस्थों की संगति में पृथ्वी पर रहते हैं।

**तात्पर्य :** भगवद्गीता (१४.१४-१५) में कहा गया है कि जो सतोगुण में अत्यधिक विकसित हैं, वे उच्चतर स्वर्गलोकों को जाते हैं और जो रजोगुण द्वारा अभिभूत हैं, वे मध्य लोकों में—पृथ्वी तथा ऐसे ही अन्य लोकों में—स्थित रहते हैं। किन्तु जो तमोगुण से पूरित हैं, वे निम्नलोकों में या पशु जगत में गिरा दिये जाते हैं। देवतागण सतोगुण में अतीव बढ़े-चढ़े होते हैं, अतः वे स्वर्गलोकों में स्थित रहते हैं। मनुष्यों से भी नीचे पशु हैं, यद्यपि उनमें से कुछ पशु मानव समाज से मिलते रहते हैं। गौवें, घोड़े, कुत्ते आदि मनुष्य के संरक्षण में रहने के आदी हैं।

इस श्लोक में *आत्यन्तिकेन* शब्द अत्यन्त सार्थक है। भौतिक प्रकृति के सतोगुण के विकास से मनुष्य स्वर्गलोक में स्थित हो सकता है। किन्तु रजो तथा तमो गुणों के अत्यधिक विकास से मनुष्य उन पशुओं की हत्या करने लगता है जिन्हें मनुष्य द्वारा संरक्षण दिया जाता है। जो व्यक्ति व्यर्थ की पशुहत्या में रत होते हैं उनमें रजो तथा तमोगुण अत्यधिक विकसित हो चुके होते हैं और सतोगुण की दिशा में उनके बढ़ने की कोई आशा नहीं रहती। उनके जीवन का निम्नतर स्थितियों में अधःपतन होता ही है। उच्चतर तथा निम्नलोकों की गणना उनमें रहने वाले जीवों की श्रेणियों के अनुसार होती है।

तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिताः ।

उभयोरन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदां गणाः ॥ २९ ॥

#### शब्दार्थ

तार्तीयेन—तृतीय गुण अर्थात् तमोगुण के अत्यधिक विकास द्वारा; स्वभावेन—ऐसे स्वभाव से; भगवत्-नाभिम्—भगवान् के विराट रूप की नाभि में; आश्रिताः—स्थित; उभयोः—दोनों के; अन्तरम्—बीच में; व्योम—आकाश; ये—जो सब; रुद्र-पार्षदाम्—रुद्र के संगी; गणाः—लोग।

जो जीव रुद्र के संगी हैं, वे प्रकृति के तीसरे गुण अर्थात् तमोगुण में विकास करते हैं। वे पृथ्वीलोकों तथा स्वर्गलोकों के बीच आकाश में स्थित होते हैं।

**तात्पर्य :** आकाश का यह मध्य भाग भुवर्लोक कहलाता है, जिसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा श्रील जीव गोस्वामी दोनों ने की है। भगवद्गीता में कहा गया है कि जिनमें रजोगुण प्रधान होता है वे मध्य भाग में स्थित रहते हैं। जो लोग सतोगुण में स्थित हैं, वे देवताओं के क्षेत्रों में भेज दिए जाते

हैं; जो रजोगुण में स्थित होते हैं, वे मानव समाज में रखे जाते हैं तथा जो लोग तमोगुण में स्थित हैं, वे पशुओं या प्रेतों के समाज में स्थान पाते हैं। इस निष्कर्ष में कोई विरोधाभास नहीं है। असंख्य जीव ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में फैले हुए हैं और इस तरह भौतिक प्रकृति-गुणों के अन्तर्गत अपनी अपनी गुणताओं के अनुसार स्थित रहते हैं।

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरुद्वह ।

यस्तून्मुखत्वाद्दर्शनानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मुखतः—मुँह से; अवर्तत—उत्पन्न हुआ; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान; पुरुषस्य—विराट पुरुष का; कुरु-उद्वह—हे कुरुवंश के प्रधान; यः—जो; तु—के कारण; उन्मुखत्वात्—उन्मुख; वर्णानाम्—समाज के वर्णों का; मुख्यः—मुख्य; अभूत्—ऐसा हो गया; ब्राह्मणः—ब्राह्मण कहलाया; गुरुः—मान्य शिक्षक या गुरु।

हे कुरुवंश के प्रधान, विराट अर्थात् विश्व रूप के मुख से वैदिक ज्ञान प्रकट हुआ। जो लोग इस वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होते हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं और वे समाज के सभी वर्णों के स्वाभाविक शिक्षक तथा गुरु हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में पुष्टि हुई है मानव समाज के चारों वर्ण विराट रूप के शरीर के क्रमानुसार विकसित हुए। ये शारीरिक विभाग हैं मुख, बाँह, कमर तथा पाँव। जो लोग मुख में स्थित हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं, जो बाँहों में स्थित हैं, वे क्षत्रिय कहलाते हैं, जो कमर में स्थित हैं, वे वैश्य कहलाते हैं और जो पाँवों में स्थित हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। हर व्यक्ति भगवान् के विश्वरूप में उनके शरीर में स्थित है। अतएव चार वर्णों के रूप में किसी जाति को इसलिए निम्न नहीं माना जाना चाहिए कि वह शरीर के किसी विशेष भाग में स्थित है। हम अपने शरीरों में अपने हाथों या पावों के प्रति अपने व्यवहारों में कोई वास्तविक भेदभाव नहीं बरतते। शरीर का अंग-प्रत्यंग महत्त्वपूर्ण है यद्यपि इनमें से मुख सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि अन्य अंगों को शरीर से काटकर अलग कर दिया जाय तो मनुष्य जीवित रह सकता है, किन्तु यदि उसका मुख काट दिया जाय तो वह जीवित नहीं रह सकता। अतः भगवान् के शरीर का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग उन ब्राह्मणों का आश्रयस्थल कहलाता है, जो वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होते हैं। जो वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख न होकर संसारी मामलों के प्रति उन्मुख होता है, वह ब्राह्मण नहीं कहला सकता, भले ही वह ब्राह्मण वंश में या ब्राह्मण

पिता से क्यों न उत्पन्न हुआ हो। ब्राह्मण पिता से उत्पन्न होने से ही कोई ब्राह्मण बनने का पात्र नहीं हो जाता। ब्राह्मण की मुख्य योग्यता वैदिक ज्ञान के प्रति उसका झुकाव है। वेद भगवान् के मुख में स्थित होते हैं और इसलिए जो कोई वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होता है, वह निश्चय ही, ब्राह्मण होता है। वैदिक ज्ञान के प्रति यह उन्मुखता भी किसी विशेष जाति या सम्प्रदाय तक सीमित नहीं है। किसी भी परिवार का तथा विश्व के किसी भी भाग का कोई भी व्यक्ति वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख हो सकता है और इससे वह असली ब्राह्मण होने के योग्य हो जाएगा।

असली ब्राह्मण स्वाभाविक तौर पर शिक्षक या गुरु होता है। जब तक किसी को वैदिक ज्ञान नहीं है, कोई व्यक्ति गुरु नहीं बन सकता। वेदों का सम्यक् ज्ञान है भगवान् को जानना और यही वैदिक ज्ञान का अन्त अर्थात् वेदान्त है। जो व्यक्ति निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त है और जिसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में कोई जानकारी नहीं होती वह भले ही ब्राह्मण बन जाय, किन्तु वह गुरु नहीं बन सकता। *पद्म पुराण* में कहा गया है—

*षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।*

*अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥*

निर्विशेषवादी योग्य ब्राह्मण बन सकता है, किन्तु वह तब तक गुरु नहीं बन सकता जब तक वैष्णव के पद को अथवा भगवद्भक्त पद को प्राप्त नहीं होता। आधुनिक युग में वैदिक ज्ञान के परम अधिकारी श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

*किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय ।*

*येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय ॥*

कोई व्यक्ति ब्राह्मण, शूद्र या संन्यासी हो सकता है, किन्तु यदि वह कृष्ण विज्ञान में निष्णात होता है, तो वह गुरु होने के योग्य है। (*चैतन्य-चरितामृत* मध्य ८.१२८) तब गुरु की योग्यता योग्य ब्राह्मण होना नहीं, अपितु कृष्ण विज्ञान में निष्णात होना है।

जो कोई भी वैदिक ज्ञान में निष्णात है, वह ब्राह्मण है। और केवल वही ब्राह्मण जो शुद्ध वैष्णव है तथा कृष्ण विज्ञान की सारी जटिलताओं को जानता है गुरु बन सकता है।

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।

यो जातस्त्रायते वर्णान्पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

बाहुभ्यः—बाहुओं से; अवर्तत—उत्पन्न हुआ; क्षत्रम्—संरक्षण की शक्ति; क्षत्रियः—संरक्षण की शक्ति के सन्दर्भ में; तत्—वह; अनुव्रतः—अनुयायी; यः—जो; जातः—ऐसा होता है; त्रायते—उद्धार करता है; वर्णान्—अन्य वृत्तियाँ; पौरुषः—भगवान् का प्रतिनिधि; कण्टक—चोर उचक्रे जैसे उपद्रवी तत्त्व; क्षतात्—दुष्टता से।

तत्पश्चात् विराट रूप की बाहुओं से संरक्षण शक्ति उत्पन्न हुई और ऐसी शक्ति के प्रसंग में समाज का चोर-उचक्रे के उत्पातों से रक्षा करने के सिद्धान्त का पालन करने से क्षत्रिय भी अस्तित्व में आये।

**तात्पर्य :** जिस तरह ब्राह्मण दिव्य वैदिक ज्ञान के प्रति विशेष उन्मुखता के फलस्वरूप जाने जाते हैं उसी तरह क्षत्रिय भी चोर-उचक्रे जैसे उपद्रवी तत्त्वों से समाज की रक्षा करने की शक्ति द्वारा पहचाने जाते हैं। *अनुव्रतः* शब्द सार्थक है। जो व्यक्ति चोर-उचक्रे से समाज की रक्षा करके क्षत्रिय सिद्धान्तों का पालन करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है, केवल जन्म से कोई क्षत्रिय नहीं होता। जाति प्रथा की धारणा सदैव गुण पर आधारित होती है, जन्म की योग्यता पर नहीं। जन्म तो बाह्य अवधारणा है, यह वर्णों तथा विभागों का मुख्य लक्षण नहीं है। *भगवद्गीता* (१८.४१-४४) में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के गुणों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है और यह समझा जाता है कि किसी समूह विशेष से सम्बन्धित होने के पूर्व ऐसे समस्त गुणों की आवश्यकता होती है।

भगवान् विष्णु को समस्त वैदिक शास्त्रों में *पुरुष* कहा गया है। कभी-कभी जीवों को भी *पुरुष* कहा जाता है यद्यपि वे अनिवार्यतः *पुरुष-शक्ति* (पराशक्ति या परा प्रकृति) अर्थात् *पुरुष* की परा शक्ति हैं। *पुरुष* (भगवान्) की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होकर जीव भ्रमवश अपने को *पुरुष* समझने लगते हैं, यद्यपि उनमें ऐसे कोई गुण नहीं होते। भगवान् में रक्षा करने की शक्ति होती है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर, इन तीनों देवताओं में से पहले में सृजन की शक्ति होती है, दूसरे में रक्षा करने की तथा तीसरे में संहार करने की शक्ति होती है। इस श्लोक में *पुरुष* शब्द सार्थक है, क्योंकि क्षत्रियों से आशा की जाती है कि वे प्रजाओं को अर्थात् थल तथा जल में उत्पन्न हुए सबों को संरक्षण प्रदान करने में भगवान् *पुरुष* का प्रतिनिधित्व करेंगे। अतएव संरक्षण मनुष्य तथा पशु दोनों ही के निमित्त है। आधुनिक समाज में प्रजा को चोर-उचक्रे से सुरक्षित नहीं रखा जाता। आधुनिक प्रजातंत्र राज्य जिसमें क्षत्रिय हैं

ही नहीं वैश्यों तथा शूद्रों की सरकार है और पहले की तरह यह ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की सरकार नहीं है। महाराज युधिष्ठिर तथा उनके पौत्र महाराज परीक्षित विशिष्ट प्रकार के क्षत्रिय राजा थे क्योंकि उन्होंने सभी मनुष्यों तथा पशुओं सभी को संरक्षण प्रदान किया। जब साक्षात् कलि ने एक गाय का बध करना चाहा तो महाराज परीक्षित तुरन्त उस दुष्ट का बध करने के लिए सन्नद्ध हो गये और कलि को अपने राज्य से बाहर निकाल दिया। यह एक पुरुष का अथवा भगवान् विष्णु के प्रतिनिधि का लक्षण है। वैदिक सभ्यता के अनुसार, योग्य क्षत्रिय राजा को भगवान् जैसा सम्मान प्रदान किया जाता है, क्योंकि वह प्रजा को संरक्षण प्रदान करके भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है। आधुनिक निर्वाचित राज्याध्यक्ष चोरी के मामलों में भी संरक्षण नहीं दे पाते, अतएव मनुष्य को बीमा कम्पनी का संरक्षण प्राप्त करना पड़ता है। आधुनिक मानव समाज की समस्याएँ योग्य ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के अभाव एवं तथाकथित सामान्य मताधिकार द्वारा वैश्यों तथा शूद्रों के अत्यधिक प्रभाव के कारण हैं।

विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीविभोः ।

वैश्यस्तदुद्धवो वार्ता नृणां यः समवर्तयत् ॥ ३२ ॥

#### शब्दार्थ

विशः—उत्पादन तथा वितरण द्वारा जीविका का साधन; अवर्तन्त—उत्पन्न किया; तस्य—उसका ( विराट रूप का ); ऊर्वोः—जाँघों से; लोक-वृत्तिकरीः—आजीविका के साधन; विभोः—भगवान् के; वैश्यः—वैश्य जाति; तत्—उनका; उद्धवः—समायोजन ( जन्म ); वार्ताम्—जीविका का साधन; नृणाम्—सारे मनुष्यों की; यः—जिसने; समवर्तयत्—सम्पन्न किया।

समस्त पुरुषों की जीविका का साधन, अर्थात् अन्न का उत्पादन तथा समस्त प्रजा में उसका वितरण भगवान् के विराट रूप की जाँघों से उत्पन्न किया गया। वे व्यापारी जन जो ऐसे कार्य को संभालते हैं वैश्य कहलाते हैं।

तात्पर्य : मानव समाज की जीविका के साधन को यहाँ पर स्पष्ट रूप से विश कह कर व्यक्त किया गया है, जिसका अर्थ है कृषि तथा कृषि-उत्पादों के वितरण का व्यापार जिसमें यातायात, बैंकिंग इत्यादि सम्मिलित हैं। उद्योग तो जीविका का कृत्रिम साधन है और बड़े पैमाने वाले उद्योग तो विशेषकर समाज की सारी समस्याओं की जड़ हैं। भगवद्गीता में भी विश में लगे वैश्यों के कर्तव्य गोरक्षा, कृषि तथा व्यापार बतलाये गये हैं। हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं कि मानव अपनी जीविका के लिए सुरक्षापूर्वक गाय तथा कृषिय भूमि पर निर्भर रह सकते हैं।

बैंकिंग तथा यातायात द्वारा उपज का विनिमय इस प्रकार की जीविका की एक शाखा है। वैश्य कई उपविभागों में बँटे हैं—उनमें से कुछ *क्षेत्री* या भूमि के स्वामी हैं, कुछ *कृष्ण* या भूमि जोतने वाले कहलाते हैं, कुछ *तिल वणिक* अर्थात् अन्न उत्पन्न करने वाले कहलाते हैं कुछ *गन्ध वणिक* अर्थात् मसाले का व्यापार करने वाले कहलाते हैं और कुछ *स्वर्ण वणिक* अर्थात् सोने तथा बैंकिंग के व्यापारी कहलाते हैं। ब्राह्मण शिक्षक तथा गुरु होते हैं, क्षत्रिय नागरिकों की चोर-उचककों से रक्षा करते हैं और वैश्य उत्पादन तथा वितरण के लिए उत्तरदायी हैं। शूद्र, कम बुद्धिमान श्रेणी के ऐसे लोग हैं, जो स्वतंत्र रूप से उपर्युक्त कार्य नहीं कर सकते, अपनी जीविका के लिए इन तीन उच्चतर श्रेणियों की सेवा करने के लिए होते हैं।

पूर्वकाल में ब्राह्मणों के जीवन की सारी आवश्यकताएँ क्षत्रियों तथा वैश्यों द्वारा पूरी की जाती थीं, क्योंकि जीविका कमाने के लिए उनके पास समय नहीं रहता था। क्षत्रियगण वैश्यों तथा शूद्रों से कर वसूल करते थे, किन्तु ब्राह्मण आयकर या भूमि लगान देने से मुक्त रखे जाते थे। मानव समाज की यह प्रणाली इतनी उत्तम थी कि कोई भी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उथल-पुथल नहीं मचती थी। अतः विभिन्न जातियाँ अथवा वर्ण विभाजन शान्तिमय मानव समाज बनाये रखने के लिए अत्यावश्यक हैं।

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।

तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

पद्भ्याम्—पैरों से; भगवतः—भगवान् के; जज्ञे—प्रकट हुआ; शुश्रूषा—सेवा; धर्म—वृत्तिपरक कार्य; सिद्धये—के हेतु; तस्याम्—उसमें; जातः—उत्पन्न हुआ; पुरा—प्राचीन काल में; शूद्रः—सेवक; यत्-वृत्त्या—वृत्ति जिससे; तुष्यते—तुष्ट होता है; हरिः—भगवान्।

तत्पश्चात् धार्मिक कार्य पूरा करने के लिए भगवान् के पैरों से सेवा प्रकट हुई। पैरों पर शूद्र स्थित होते हैं, जो सेवा द्वारा भगवान् को तुष्ट करते हैं।

**तात्पर्य :** सेवा सभी जीवों की असली स्वाभाविक वृत्ति है। जीव भगवान् की सेवा करने के निमित्त हैं और वे इस सेवा भाव से धार्मिक सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल चिन्तन द्वारा धार्मिक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। अध्यात्मवादियों का ज्ञानी

वर्ग आत्मा तथा पदार्थ का अन्तर जानने के लिए ही चिन्तन करता रहता है, किन्तु ज्ञान द्वारा उसे मुक्त हुए आत्मा के कार्यों की कोई जानकारी नहीं रहती। यह कहा जाता है कि जो लोग वस्तुओं को यथारूप में जानने के लिए मानसिक चिन्तन ही करते रहते हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति में नहीं लगते वे केवल अपने समय की बरबादी करते हैं।

यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है कि सेवा का सिद्धान्त धार्मिक विधि को पूरा करने के निमित्त भगवान् के पाँवों से उत्पन्न किया गया था, किन्तु यह दिव्य सेवा भौतिक जगत के सेवा भाव से भिन्न है। भौतिक जगत में कोई भी सेवक नहीं बनना चाहता, हर व्यक्ति स्वामी बनना चाहता है, क्योंकि मिथ्या स्वामित्व बद्धजीव का मूलभूत रोग है। भौतिक जगत में बद्धजीव अन्वों पर प्रभुत्व जताना चाहता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होकर वह भौतिक जगत में सेवक बनने के लिए बाध्य किया जाता है। बद्धजीव की यही असली स्थिति है। भ्रामक बहिरंगा शक्ति का अन्तिम पाश भगवान् से एकाकार होने की अवधारणा है और इसी धारणा के कारण भ्रमित जीव अपने को भूल से मुक्तात्मा तथा “नारायण के तुल्य” मानते हुए भौतिक शक्ति के बन्धन में पड़ा रहता है।

वस्तुतः ब्राह्मण की अपेक्षा शूद्र होना और सेवाभाव का विकास करना श्रेयस्कर होता है, क्योंकि केवल इसी भाव से भगवान् तुष्ट होते हैं। प्रत्येक जीव को, भले ही योग्यता के अनुसार वह ब्राह्मण हो, भगवान् की दिव्य सेवा करनी चाहिए। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* दोनों ही इसकी परिपुष्टि करते हैं कि यह सेवाभाव जीव की सिद्धि है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र एकमात्र भगवान् की सेवा करके ही अपने वृत्तिपरक कर्तव्य को पूरा कर सकता है। ब्राह्मण से अपेक्षा की जाती है कि वैदिक ज्ञान में अपनी पूर्णता के कारण वह इस तथ्य को जाने। अन्य वर्गों को ब्राह्मण वैष्णव (योग्यता के अनुसार ब्राह्मण तथा कर्मद्वारा वैष्णव) के निर्देश का अनुगमन करना चाहिए। इससे सम्पूर्ण समाज अपने सामाजिक ढाँचे की व्यवस्था के अनुसार पूर्ण बन सकेगा। अव्यवस्थित समाज न तो समाज के सदस्यों को, न ही भगवान् को तुष्ट कर सकता है। यदि कोई पूर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र न भी हो, किन्तु यदि वह अपने सामाजिक पद की सिद्धि की परवाह न करते हुए भगवान् की सेवा करता है, तो वह भगवान् के प्रति केवल सेवा भाव उत्पन्न करके पूर्ण मानव बन जाता है।



एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम् ।

श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ॥ ३४ ॥

### शब्दार्थ

एते—ये सारे; वर्णाः—समाज की श्रेणियाँ; स्व-धर्मेण—अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों द्वारा; यजन्ति—पूजा करते हैं; स्व-गुरुम्—अपने गुरु; हरिम्—भगवान् को; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; आत्म—आत्मा; विशुद्धि-अर्थम्—शुद्ध करने के लिए; यत्—जिससे; जाताः—उत्पन्न; सह—के साथ; वृत्तिभिः—वृत्तिपरक कर्तव्य ।

ये भिन्न-भिन्न समस्त सामाजिक विभाग, अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों तथा जीवन परिस्थितियों के साथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से उत्पन्न होते हैं। इस तरह अबद्धजीवन तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य को गुरु के निर्देशानुसार परम प्रभु की पूजा करनी होती है।

तात्पर्य : चूँकि सारे जीव भगवान् के विराट रूप के शरीर के पृथक्-पृथक् भागों से उत्पन्न हुए हैं, अतएव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त भागों के जीवों को परम शरीर का नित्य सेवक माना जाता है। हमारे अपने शरीर का प्रत्येक भाग, यथा मुँह, हाथ, जाँघ तथा पाँव, सम्पूर्ण शरीर की सेवा करने के लिए होते हैं। यही उनकी स्वाभाविक स्थिति है। मानवेतर जीवन में जीवों को स्वाभाविक स्थिति की चेतना नहीं होती, किन्तु मनुष्य जीवन में उनसे आशा की जाती है कि वे वर्ण प्रणाली के माध्यम से इसे जानें। जैसाकि ऊपर उल्लेख हुआ है, समाज के समस्त वर्णों का गुरु ब्राह्मण होता है, अतः ब्राह्मण संस्कृति, जिसकी पराकाष्ठा भगवान् की दिव्य सेवा है, आत्मा की शुद्धि के लिए आधार भूत सिद्धान्त है।

बद्धजीवन में आत्मा को ऐसा प्रतीत होता है कि वह ब्रह्माण्ड का स्वामी बन सकता है और इस भ्रान्त धारणा का अन्तिम बिन्दु यह है कि वह अपने को ब्रह्म सोचने लगता है। मूर्ख बद्ध-जिवात्मा इस बात पर ध्यान नहीं देता कि ब्रह्म कभी माया द्वारा बद्ध नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म माया द्वारा बद्ध हो जाय तो फिर उसकी सर्वोच्चता कहाँ रही? उस दशा में माया सर्वोच्च होगी। इसलिए जीव कभी सर्वोच्च नहीं हो सकते, क्योंकि वे बद्ध हैं। इस श्लोक में बद्ध आत्मा की वास्तविक स्थिति बतलाई गई है—तीन गुणों में भौतिक प्रकृति से सम्पर्क के कारण सारे बद्धजीव अशुद्ध होते हैं। इसलिए ऐसे प्रामाणिक गुरु के पथ प्रदर्शन के अन्तर्गत उन्हें अपने को शुद्ध बनाना आवश्यक होता है, जो अपनी योग्यता से न केवल ब्राह्मण हों, अपितु वैष्णव भी हों। यहाँ पर आत्मशुद्धि की जिस एकमात्र विधि का उल्लेख हुआ है, वह मान्य विधि के अन्तर्गत—प्रामाणिक गुरु के पथ प्रदर्शन में—भगवान् की पूजा करना है। यही शुद्धि की स्वाभाविक विधि है और अन्य किसी विधि की प्रामाणिक होने के रूप में

संस्तुति नहीं की गई है। शुद्धि की अन्य विधियाँ जीवन की इस अवस्था तक पहुँचने में सहायक बन सकती हैं, किन्तु वास्तविक सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व मनुष्य को इस अन्तिम बिन्दु तक आना होता है।

भगवद्गीता (७.१९) में इस सत्यता की पुष्टि निम्नवत् हुई है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।

कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ॥ ३५ ॥

#### शब्दार्थ

एतत्—यह; क्षत्तः—हे विदुर; भगवतः—भगवान् का; दैव-कर्म-आत्म-रूपिणः—विराट रूप के दिव्य कर्म, काल तथा प्रकृति का; कः—और कौन; श्रद्दध्यात्—आकांक्षा कर सकता है; उपाकर्तुम्—समग्र रूप में मापने के लिए; योगमाया—अन्तरंगाशक्ति के; बल-उदयम्—बल द्वारा प्रकट ।

हे विदुर, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रकट किये गये विराट रूप के दिव्य काल, कर्म तथा शक्ति को भला कौन माप सकता है या उसका आकलन कर सकता है ?

तात्पर्य : कूपमण्डूक दार्शनिक भगवान् की अन्तरंगा शक्ति योगमाया द्वारा प्रदर्शित विराट रूप के विषय में मानसिक चिन्तन करते रहें, किन्तु वस्तुतः कोई भी ऐसे विशाल प्रदर्शन को माप नहीं सकता ।

भगवद्गीता (११.१६) में भगवान् के मान्य भक्त अर्जुन ने कहा है—

अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

“हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! मैं सभी दिशाओं में असंख्य हाथ, शरीर, मुख तथा आँखें देख रहा हूँ और वे सभी अनन्त हैं। मैं इस रूप का न तो अन्त पा सकता हूँ, न मध्य, न ही आदि।”

भगवद्गीता विशेष रूप से अर्जुन से कही गई थी और उसके अनुरोध पर उसके समक्ष विश्वरूप दिखलाया गया था। उसे इस विश्वरूप को देखने के लिए विशेष आँखें प्रदान की गई थीं। इस तरह यद्यपि वह भगवान् के असंख्य हाथ तथा मुख देख सका, किन्तु वह पूर्णरूपेण उनका दर्शन नहीं कर सका। जब अर्जुन भगवान् की शक्ति के माप का अनुमान लगाने में असमर्थ रहा तो भला और कौन

ऐसा कर सकता है ? हाँ, कोई कूपमण्डूक दार्शनिक की तरह भ्रान्त अनुमान करने में लगा रह सकता है। कूपमण्डूक दार्शनिक तीन वर्गफुट आकार वाले कुएँ के अपने अनुभव के आधार पर प्रशान्त महासागर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान लगाना चाहता था, अतः वह प्रशान्त महासागर जितना विशाल होने के लिए गर्व से फूलने लगा, किन्तु अन्त में उसका शरीर फट गया और इस विधि से वह मर गया। यह वृत्तान्त उस मानसिक दार्शनिक पर भी लागू होता है, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति की माया के अधीन परमेश्वर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान लगाने में उलझा रहता है। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् का शान्त एवं विनीत भक्त बना जाय, प्रामाणिक गुरु से भगवान् के विषय में सुनने का प्रयास किया जाय तथा जैसाकि पिछले श्लोक में सुझाव दिया गया है, दिव्य प्रेमाभक्ति में भगवान् की सेवा की जाय।

तथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम् ।

कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तथा—इसलिए; अपि—यद्यपि ऐसा है; कीर्तयामि—मैं वर्णन करता हूँ; अङ्ग—हे विदुर; यथा—जिस तरह; मति—बुद्धि; यथा—जिस तरह; श्रुतम्—सुना हुआ; कीर्तिम्—यश; हरेः—भगवान् का; स्वाम्—निजी; सत्-कर्तुम्—शुद्ध करने हेतु; गिरम्—वाणी; अन्याभिधा—अन्यथा; असतीम्—अपवित्र।

अपनी असमर्थता के बावजूद मैं (अपने गुरु से) जो कुछ सुन सका हूँ तथा जितना आत्मसात् कर सका हूँ उसे अब शुद्ध वाणी द्वारा भगवान् की महिमा के वर्णन में लगा रहा हूँ, अन्यथा मेरी वाक्शक्ति अपवित्र बनी रहेगी।

तात्पर्य : बद्ध आत्मा की शुद्धि के लिए उसकी चेतना की शुद्धि आवश्यक है। चेतना की उपस्थिति से दिव्य आत्मा की उपस्थिति की पुष्टि होती है और ज्योंही चेतना शरीर को त्याग देती है त्योंही शरीर निष्क्रिय हो जाता है। अतः चेतना की अनुभूति कार्यों से होती है। प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला यह सिद्धान्त कि चेतना निष्क्रिय अवस्था में रह सकती है उनके अल्पज्ञान का प्रमाण है। शुद्ध चेतना के कार्यकलापों को रोककर किसी को भी अपवित्र नहीं बनना चाहिए। यदि शुद्ध चेतना के कार्यकलापों को रोका जाता है, तो निश्चय ही सचेत जीवनी शक्ति अन्य प्रकार से व्यस्त हो जाएगी, क्योंकि जब तक व्यस्त न हो, चेतना का कोई अर्थ नहीं होता। चेतना क्षणभर भी शान्त

नहीं रह सकती। जब शरीर कार्य नहीं करता होता है, तो चेतना स्वप्नों के रूप में कार्य करती है। अचेतनता कृत्रिम है। बाह्य प्रेरणा से यह सीमित अवधि तक रहती है, किन्तु जब दवा का नशा उतरता है या जब मनुष्य जग जाता है, तो चेतना फिर से सही ढंग से कार्य करने लगती है।

मैत्रेय का कथन है कि अपवित्र सचेतन कार्यकलापों से बचने के लिए वे भगवान् की अनन्त कीर्ति का वर्णन करने का प्रयास कर रहे थे यद्यपि उनको ठीक से वर्णित कर पाने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी। भगवान् की कीर्ति का गायन किसी शोध का परिणाम नहीं है, अपितु गुरुमुख से विनीत भाव से सुनने का परिणाम है। अपने गुरु से जो कुछ सुना हुआ रहता है उसे पूर्ण रूप से दुहरा पाना भी सम्भव नहीं है, किन्तु भरसक प्रयास करके यथासम्भव कुछ न कुछ वर्णन किया जा सकता है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि भगवान् की महिमा का वर्णन पूरी तरह हुआ या नहीं। मनुष्य को *मनसा-वाचा-कर्मणा* भगवान् की दिव्य महिमा के गायन का प्रयास करना चाहिए अन्यथा ऐसे कार्यकलाप अपवित्र तथा अशुद्ध बने रहेंगे। बद्धजीव के जीवन मन तथा वाणी को भगवान् की सेवा में लगाने की विधि से ही शुद्ध बनाया जा सकता है। वैष्णवमत का *त्रिदण्डी संन्यासी* तीन दण्ड धारण करता है और ये दण्ड शरीर, मन, तथा वाणी से भगवान् की सेवा में लगने के व्रत के प्रतीक हैं जबकि एकदण्डी संन्यासी ब्रह्म से एकाकार होने का व्रत लेता है। चूँकि भगवान् परम हैं, अतएव उनमें तथा उनकी महिमा में कोई अन्तर नहीं है। वैष्णव संन्यासी द्वारा गाई जाने वाली भगवान् की महिमाएं भगवान् जैसी ही सारपूर्ण हैं। अतः भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुए भक्त दिव्य रुचि में अभिभूत हो कर उनसे एकाकार हो जाता है, यद्यपि वह शाश्वत रूप से दिव्य सेवक बना रहता है। भक्त की यह एकसाथ *अचिन्त्य भेदाभेद* स्थिति उसे शाश्वत रूप से शुद्ध बनाती है और इस तरह उसका जीवन पूर्णरूपेण सफल बन जाता है।

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां  
 सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।  
 श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां  
 कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

एक-अन्त—बेजोड़; लाभम्—लाभ; वचसः—विवेचना द्वारा; नु पुंसाम्—परम पुरुष के बाद; सुश्लोक—पवित्र; मौलेः—कार्यकलाप; गुण-वादम्—गुणगान; आहुः—ऐसा कहा जाता है; श्रुतेः—कान का; च—भी; विद्वद्भिः—विद्वान द्वारा; उपाकृतायाम्—इस तरह सम्पादित; कथा-सुधायाम्—ऐसे दिव्य सन्देश रूपी अमृत में; उपसम्प्रयोगम्—असली उद्देश्य को पूरा करता है, निकट होने से।

मानवता का सर्वोच्च सिद्धिप्रद लाभ पवित्रकर्ता के कार्यकलापों तथा महिमा की चर्चा में प्रवृत्त होना है। ऐसे कार्यकलाप महान् विद्वान् ऋषियों द्वारा इतनी सुन्दरता से लिपिबद्ध हुए हैं कि कान का असली प्रयोजन उनके निकट रहने से ही पूरा हो जाता है।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी भगवान् के कार्यकलापों को सुनने से अतीव भयभीत रहते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि ब्रह्म के दिव्य पद से प्राप्त सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है। वे सोचते हैं कि हर एक का कार्य, चाहे वह भगवान् ही क्यों न हो, लौकिक होता है। किन्तु इस श्लोक में सुख का जो भाव व्यक्त है, वह भिन्न है, क्योंकि यह परम पुरुष के कार्यों को बतलाता है जिनके गुण दिव्य होते हैं। गुणवादम् शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् के गुण तथा उनके कार्यकलाप एवं उनकी लीलाएँ भक्तों की चर्चा के विषय होते हैं। मैत्रेय जैसा ऋषि निश्चय ही लौकिक गुणों वाली किसी बात की चर्चा करने में रुचि नहीं रखता। फिर भी वे कहते हैं कि दिव्य साक्षात्कार की सर्वोच्च सिद्धिप्रद अवस्था भगवान् के कार्यकलापों की चर्चा करना है। इसीलिए श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् के दिव्य कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाएँ कैवल्य सुख की दिव्य अनुभूति से बहुत परे हैं। भगवान् के इन दिव्य कार्यकलापों को महर्षियों ने इस प्रकार लिपिबद्ध किया है कि उन कथाओं को सुनने से ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है और कान तथा जीभ का भी सदुपयोग हो जाता है। श्रीमद्भागवत ऐसा ही एक महान् ग्रन्थ है और इसकी विषयवस्तु को सुनने-सुनाने मात्र से जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है।

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनादिना ।  
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्कया ॥ ३८ ॥

#### शब्दार्थ

आत्मनः—परमात्मा की; अवसितः—ज्ञात; वत्स—हे पुत्र; महिमा—महिमा; कविना—कवि ब्रह्मा द्वारा; आदिना—आदि;  
संवत्सर—दैवी वर्ष; सहस्र-अन्ते—एक हजार वर्षों के अन्त में; धिया—बुद्धि द्वारा; योग-विपक्कया—परिपक्व ध्यान द्वारा।

हे पुत्र, आदि कवि ब्रह्मा एक हजार दैवी वर्षों तक परिपक्व ध्यान के बाद केवल इतना जान पाये कि भगवान् की महिमा अचिन्त्य है।

**तात्पर्य :** कुछ ऐसे कूपमण्डूक दार्शनिक हैं, जो दर्शन तथा मानसिक चिन्तन द्वारा परमात्मा को जानना चाहते हैं। जब परमेश्वर को कुछ हद तक जानने वाले भक्तगण यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् की महिमा अकल्पनीय अथवा अचिन्त्य है, तो कूपमण्डूक दार्शनिक उनकी निन्दा पूर्वक आलोचना करते हैं। ये दार्शनिक उस कूपमण्डूक की तरह हैं जिसने प्रशान्त महासागर को मापने का प्रयास किया था। वे आदिकवि ब्रह्मा जैसे भक्तों से उपदेश ग्रहण न करके निरर्थक मानसिक चिन्तन का कष्ट उठाना पसंद करते हैं। ब्रह्माजी ने एक हजार दैवी वर्षों तक कठिन ध्यान किया था; फिर भी उन्होंने कहा कि भगवान् की महिमा अचिन्त्य है। अतः ये कूपमण्डूक दार्शनिक अपने मानसिक चिन्तन से कौन सा लाभ पाने की आशा कर सकते हैं ?

*ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि मानसिक चिन्तक चिन्तन के आकाश में मन या वायु के वेग से करोड़ों वर्षों तक क्यों न उड़ता रहे, फिर भी वह इसे अचिन्त्य पाएगा। किन्तु भक्तगण ब्रह्म के ज्ञान की व्यर्थ खोज में समय नहीं गँवाते, अपितु वे प्रामाणिक भक्तों से भगवान् की महिमा का विनीत भाव से श्रवण करते हैं। इस तरह वे श्रवण तथा कीर्तन की प्रक्रिया का दिव्य आनन्द उठाते हैं। भगवान् भक्तों या महात्माओं के भक्तिकार्यों का अनुमोदन करते हैं और कहते हैं—

*महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।*

*भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥*

*सततं कार्तियन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।*

*नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥*

( भगवद्गीता ९.१३-१४ )

भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् की अंतरंगा शक्ति, पराप्रकृति की शरण ग्रहण करते हैं जिसे लक्ष्मीदेवी, सीतादेवी, श्रीमती राधारानी या श्रीमती रुक्मिणीदेवी कहा जाता है। इस तरह वे वास्तविक *महात्मा* बन जाते हैं। *महात्मा* मानसिक चिन्तन के शौकीन नहीं होते, किन्तु वे अविचल भाव से भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। भक्ति का प्राकट्य भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुनने तथा कीर्तन करने की प्रारम्भिक विधि से होता है। *महात्माओं* द्वारा अपनायी गई इस दिव्य विधि से उन्हें भगवान् विषयक पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि यदि भगवान् को किसी हद तक जाना जा

सकता है, तो वह भक्ति के साधन के द्वारा ही है, अन्य किसी विधि द्वारा नहीं। चिन्तन करते हुए कोई मनुष्य अपने पूरे जीवन का मूल्यवान समय व्यर्थ क्यों न बिता दे, किन्तु इससे भगवान् के धाम में प्रवेश पाने में कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु महात्मागण मानसिक चिन्तन द्वारा भगवान् को जानने में तनिक भी रुचि नहीं दिखाते, क्योंकि वे भगवान् द्वारा अपने भक्तों के साथ या असुरों के साथ दिव्य व्यवहारों के अन्तर्गत उनके महिमायुक्त कार्यकलापों के विषय में श्रवण करने में आनन्द लेते हैं। भक्त-गण इन दोनों में आनन्द पाते हैं और इस जीवन में तथा बाद के जीवन में सुखी रहते हैं।

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।

यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥ ३९ ॥

#### शब्दार्थ

अतः—इसलिए; भगवतः—ईश्वरीय; माया—शक्तियाँ; मायिनाम्—जादूगरों को; अपि—भी; मोहिनी—मोहने वाली; यत्—जो; स्वयम्—अपने से; च—भी; आत्म-वर्त्म—आत्म-निर्भर; आत्मा—आत्म; न—नहीं; वेद—जानता है; किम्—क्या; उत—विषय में कहना; अपरे—अन्यों के।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की आश्चर्यजनक शक्ति जादूगरों को भी मोहग्रस्त करने वाली है। यह निहित शक्ति आत्माराम भगवान् तक को अज्ञात है, अतः अन्यों के लिए यह निश्चय ही अज्ञात है।

तात्पर्य : भले ही कूपमण्डूक दार्शनिक तथा विज्ञान एवं गणितीय गणना के लौकिक बखेड़ेबाज पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अचिन्त्य शक्ति में विश्वास न करें, किन्तु कभी-कभी वे मनुष्य तथा प्रकृति की अद्भुत जादूगरी से चकरा जाते हैं। लौकिक जगत के ऐसे जादूगर तथा बाजीगर भगवान् के दिव्य कार्यकलापों की जादूगरी से सचमुचही चकरा जाते हैं, किन्तु वे अपने मोह को यह कहकर समंजित करने का प्रयास करते हैं कि यह सब पौराणिक कल्पना है। किन्तु परम शक्तिमान पुरुष में कुछ भी असम्भव या पौराणिक नहीं है। लौकिक विवादप्रिय लोगों के लिए सबसे आश्चर्यजनक पहली यह है कि एक ओर जहाँ वे परम पुरुष की असीम शक्ति की लम्बाई-चौड़ाई की गणना करने में लगे रहते हैं, वहीं उनके श्रद्धालु भक्तजन व्यवहार जगत में भगवान् की अद्भुत जादूगरी की प्रशंसा करने मात्र से भवबन्धन से मुक्त कर दिये जाते हैं। भगवद्भक्त खाते, सोते, काम करते—इन सभी परिस्थितियों में जिन-जिन वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं उनमें वे आश्चर्यमय कुशलता देखते हैं। वटवृक्ष के छोटे से

फल में हजारों छोटे-छोटे बीज होते हैं और प्रत्येक बीज में एक अन्य वृक्ष की शक्ति छिपी रहती है और इसमें भी कार्यकारण के रूप में लाखों ऐसे फलों की शक्ति निहित होती है। अतः वृक्ष तथा बीज भक्तों को भगवान् के कार्यकलापों के विषय में ध्यान करने में लगाते हैं जबकि लौकिक विवादप्रिय लोग अपना समय शुष्क चिन्तन तथा मनोरथ में व्यर्थ गँवाते हैं, जो इस जीवन में तथा अगले जीवन दोनों में ही निष्फल होता है। अपने चिन्तन से गर्वित वे कभी भी वटवृक्ष के सरल छिपे हुए कार्यकलापों की प्रशंसा नहीं करते। ऐसे बेचारे चिन्तकों के भाग्य में निरन्तर पदार्थ में फंसे रहना बदा है।

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह ।

अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥ ४० ॥

#### शब्दार्थ

यतः—जिससे; अप्राप्य—माप न सकने के कारण; न्यवर्तन्त—प्रयास करना बन्द कर देते हैं; वाचः—शब्द; च—भी; मनसा—मन से; सह—सहित; अहम् च—अहंकार भी; अन्ये—अन्य; इमे—ये सभी; देवाः—देवतागण; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार करते हैं।

अपने-अपने नियंत्रक देवों सहित शब्द, मन तथा अहंकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानने में असफल रहे हैं। अतएव हमें विवेकपूर्वक उन्हें सादर नमस्कार करना होता है।

**तात्पर्य :** कूपमण्डूक आकलक यह आपत्ति उठा सकता है कि यदि भगवान् वाणी, मन तथा अहंकार के नियन्ता देवों द्वारा, जो कि क्रमशः वेद, ब्रह्मा, रुद्र तथा बृहस्पति इत्यादि देवता हैं, अज्ञेय हैं, तो फिर भक्तगण इस अज्ञात वस्तु में इतनी रुचि क्यों दिखाएँ? इसका उत्तर यह है कि भक्तों को भगवान् की लीलाओं को जानने में जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, वह निश्चय ही अभक्तों तथा मानसिक चिन्तकों के लिए अज्ञात है। यदि कोई दिव्य आनन्द का आस्वाद नहीं कर लेता तब स्वाभाविक है कि वह अपने चिन्तन तथा मनगढ़ंत निष्कर्षों से वापस लौट आएगा, क्योंकि वह उन्हें न तो वास्तविक मानेगा न आनन्दवर्धक। भक्तगण कम से कम इतना तो जान सकते हैं कि परम सत्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु हैं, जैसी कि वैदिक स्तोत्रों में पुष्टि हुई है—ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। भगवद्गीता (१५.१५) में भी इस तथ्य की पुष्टि हुई है—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। मनुष्य को वैदिक ज्ञान के अनुशीलन के द्वारा भगवान् कृष्ण को जानना चाहिए और व्यर्थ ही अहम्



अर्थात् “मैं” शब्द के विषय में चिन्तन नहीं करना चाहिए। परम सत्य को जानने की एकमात्र विधि भक्ति है जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है— *भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*। केवल भक्ति द्वारा यह जाना जा सकता है कि परम सत्य भगवान् हैं और ब्रह्म तथा परमात्मा उनके अंश हैं। इसकी पुष्टि इस श्लोक में महर्षि मैत्रेय द्वारा की गई है। वे भक्तिभाव से भगवान् को ( *भगवते*) सादर नमस्कार (नमः) करते हैं। मनुष्य को मैत्रेय तथा विदुर, महाराज परीक्षित एवं शुकदेव गोस्वामी जैसे महर्षियों तथा भक्तों के चरणचिह्नों का अनुगमन करना चाहिए और यदि वह उनके परम स्वरूप को जानना चाहता है, जो कि ब्रह्म तथा परमात्मा के ऊपर है, तो उसे भगवान् की दिव्य भक्तिमय सेवा में लग जाना है।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “विश्वरूप की सृष्टि” नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*